

प्राचीन भारत में ज्ञान का आलोक

डॉ० राकेश कुमार तिवारी ¹, अमिता ओझा ¹, कामेश्वर शुक्ला ², डॉ० अलका मिश्रा ¹
 1- महाकौशल विश्वविद्यालय, जबलपुर (म. प्र.) 2- स्वामी विवेकानन्द विश्वविद्यालय, सागर
 (म०प्र०)

प्राचीन भारत में ज्ञान का आलोक जागृत करने में शिक्षा की भूमिका अग्रणीय है। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने शिक्षा वेद के छः अंगों में एक अंगमात्र स्वीकृत किया है जिसके अन्तर्गत स्वर, वर्ण, उदात्त, अनुदात्त आदि के उच्चारण पर प्रकाश डाला जाता है—**शिक्ष्यते वर्णायुच्चारणप्रकारो यया सा शिक्षा**। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में जिस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए शिक्षा शब्द का प्रयोग होता है। शिक्षा के लिए काल में 'विद्या' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह ज्ञान का अपर पर्याय है—वेत्यात्मानमनयेति विद्या, इसीलिए 'सा विद्या या विमुक्तये', 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' जैसी उक्तियों द्वारा इसे व्याख्यायित किया गया। यह विद्या दो प्रकार की बतायी गयी—'परा' और 'अपरा'। उपनिषद् को परा (श्रेष्ठा) माना गया शेष को 'अपरा'। यह विभाजन चतुःपुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) एवं परमपुरुषार्थ (मोक्ष) रूप विभागों के आधार पर हुआ है। इस दृष्टि से त्रिवर्ग से सम्बद्ध विद्या 'अपरा' है तथा मोक्ष परक 'परा'।

ज्ञान मनुष्य का तीसरा एवं वास्तविक नेत्र है। विद्या माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान हितकारी कार्यों में नियुक्त करती है, रमणीवत् दुःखों को दूर करके आनन्द पहुँचाती है, यश तथा वैभव का चतुर्दिक् विस्तार करती है, (दूसरे शब्दों में) कल्पलता की तरह मनोवांछित फल प्रदान करती है। यह ऐसा धन है जो सर्वथा सुरक्षित एवं व्यय करने पर बढ़ने वाला है। इसीलिए विद्याविहीन व्यक्ति को पशु माना गया है—विद्याविहीनः पशुः।

उपनयन संस्कार शिक्षा का प्रवेश द्वार था और समावर्तन इसकी पूर्णता। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण के बालकों के लिए उपनयन की अवस्था अलग-अलग बतायी गयी है जिसका रहस्य यह है कि बुद्धिलब्धिजन्य अन्तर को अवस्थाजन्य अनुभव से कम करके अष्टवर्षीय ब्राह्मण (= प्रतिभाशाली), एकादश वर्षीय क्षत्रिय (=उत्तम कोटिक) तथा द्वादश वर्षीय वैश्य (= मध्यम कोटिक) छात्र को एक साथ शिक्षित करना उचित माना गया। शूद्र

के लिए उपनयन संस्कार विहित न होने से वेदाध्ययन में उसका अधिकार नहीं था। इसका कारण था उसकी बुद्धिलब्धि का अत्यन्त न्यून होना। जो ग्रहणावधारणसमर्थ न हो उसे हठात् उच्च ज्ञान देने का प्रयास समय एवं सामर्थ्य का अपव्ययमात्र है।

प्रक्रिया यह थी कि उपनयन के बाद बालक को गुरुकुल में प्रवेश कराया जाता था जहाँ उसे 'अन्तेवासी' संज्ञा मिलती थी। 'अन्तेवासी' शब्द के रहस्य को उद्घाटित सा करते हुए अथर्ववेद (11.3.5) में कहा गया है कि बालक को शिक्षित करने के लिए स्वीकार करते हुए गुरु इस प्रकार सुरक्षित तथा संभाल कर रखता है, जैसे माँ उसे अपने गर्भ में रखती है। अभिप्राय यह हुआ कि 'अन्तेवासी' होकर बालक गुरु के हृदय का टुकड़ा बन जाता था। स्पष्ट है कि गुरु-शिष्य सम्बन्धों का इससे अच्छा चित्र नहीं रचा जा सकता। बालक का पितृकुल छूटा तो उसे गुरुकुल मिल गया।

वीर्य को नष्ट न होने देना, सदाचार का जीवन व्यतीत करना-अन्तेवासी के लिए प्रथम एवं प्रमुख कर्तव्य निर्धारित है। इसके लिए उसे सभी प्रकार के प्रसाधनों से पराङ्मुख रहने का प्रावधान विहित था तथा प्रतीक रूप में मेखला कौपीन, मृगचर्म धारण कराया जाता था। गुरुकुल वनों के सुरम्य प्राकृतिक वातावरण में होते थे, अतएव वन्य पशुओं से रक्षा के निमित्त दण्डधारण करने का विधान था। सहपाठियों में ऊँच-नीच के भेदभाव को दूर करने और सदैव विनम्र व्यवहार का प्रशिक्षण देने की दृष्टि से भिक्षाटन को दिनचर्या का अभिन्न अंग बना दिया गया था। धर्मशास्त्रों तथा स्मृतियों में ब्रह्ममुहूर्त में सोकर उठने से लेकर रात्रि में सोने तक की दिनचर्या का स्पष्ट एवं विस्तृत विवरण दिया गया है जिसका पालन प्रत्येक अन्तेवासी के लिये अनिवार्य माना जाता था। इस प्रकार कठोर अनुशासन के कारण शिक्षा सही अर्थों में तपश्चर्या थी।

प्राचीन शिक्षा मूलतः मौखिक थी जिसका प्रधान आधार था गुरु। ऋग्वेद (7.103.5) में उल्लिखित है कि पढ़ने वाला गुरु की बातें उसी प्रकार दुहराता है जिस प्रकार मेढ़क टरान में दूसरे मेढ़क की वाणी का अनुकरण करता है। मौखिक पद्धति होने के कारण मन्त्रगत शब्दों के क्रम परिवर्तन, विस्मरण आदि की त्यों आगे की पीढ़ियों तक ले जाने के लिए

संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ तथा रथपाठ जैसे सुन्दर एवं व्यवस्थित नियम बनाये गये थे। ऐसा लगता है कि इस प्रणाली में गुरु, अनुशासन और स्मृति का ही विशेष महत्व है, शिष्य गौण है, सारी विद्या रटन्त है परन्तु ऐसा नहीं है। वेदाध्ययन का तात्पर्य केवल मंत्रों को कण्ठस्थ कर लेना नहीं प्रत्युत उसका अर्थ भी समझना है। निरुक्त (1.18) में कहा गया है कि अर्थावगति रहित वेदाध्ययन करने वाला व्यक्ति वृक्ष के समान जड़ है और केवल भारवहन करने वाला है, जो अर्था जानता है उसे आनन्द की प्राप्ति होती है। दक्षस्मृति (2.27) के अनुसार वेदाध्ययन में पाँच तत्त्व समाहित हैं—वेद को कण्ठस्थ करना, उसके अर्थ पर विचार करना, पुनरावृत्ति द्वारा सदा नवीन बनाये रखना, जप (मन ही मन प्रार्थना के रूप में दुहराना) एवं दूसरे को पढ़ाना। यही नहीं, शिष्य को जीवन पर्यन्त 'स्वाध्यायरत' रहने का उपदेश दिया गया है। स्वाध्याय में शिष्य स्वयं चिन्तन मनन द्वारा अपने ढंग से ज्ञान प्राप्त करता है और उसके इस ज्ञानार्जन में गुरु का महत्व गौण होता है। इस प्रकार प्राचीन शिक्षा पद्धति में (गुरु द्वारा) उपदेश और (शिष्य द्वारा) स्वाध्याय दोनों का मंजुल समन्वय है, गुरु—शिष्य दोनों का परस्पर सहयोग अपरिहार्य है जैसा कि कठोपनिषद् के शान्तिपाठ में निर्दिष्ट है। वस्तुतः विद्या के चार चरण हैं—अधीति, बोध, आचरण और प्रचार। इनसे समन्वित ज्ञान ही तेजस्वी होता है। अध्ययन की सार्थकता है उसका व्यावहारिक विनियोग।

केवल शिष्य के लिए ही कठोर अनुशासन नहीं विहित था अपितु आचार्य को भी ब्राह्मण (ज्ञानसम्पन्न) वेद में एकनिष्ठ धर्मज्ञ, कुलीन, शुचि, श्रोत्रिय, अपनी शाखा में प्रवीण एवम् अप्रमादी होना अनिवार्य था। निरुक्त में 'आचारं ग्राहयति' कहते हुए आचार्य शब्द की जो व्याख्या की गई है उसका अभिप्राय यही है कि शिष्य गुरुकुल में रहते हुए केवल गुरु के ज्ञान से ही प्रभावित नहीं होता प्रत्युत उसके क्रियाकलाप, व्यवहार और आचरण का भी शिष्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। ऐसी दशा में गुरु को भी उसी आत्मसंयम तथा नैतिकता के प्रति समर्पित रहना पड़ता था जिसकी वह शिष्य से अपेक्षा करता था।

कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में वेदाध्ययन स्थगित रखा जाता था जिसे अनध्याय काल माना जाता था। गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में अनध्याय की विस्तृत चर्चा हुई है।

तैत्तिरीयारण्यक (2.15) में अध्ययनकर्ता एवं स्थान की अपवित्रता को अनध्याय का कारण बताया गया है परन्तु अनध्याय विषयक सूची देखने से पता चलता है कि वे सारी परिस्थितियाँ अनध्याय का कारण थीं जिनमें अतिशय हर्षोल्लास या विषाद का वातावरण हो, शारीरिक या मानसिक तनाव हो अथवा व्यस्तता भय आदि की प्रबल आशंकाएँ हो। ऐसे अवसरों पर मन प्रायः चंचल हो उठता है जब कि वैदिक मन्त्रों का स्मरण पूर्ण मनोयोग की अपेक्षा रखता है। जब ज्ञानार्जन के लिये सर्वथा उपयुक्त वातावरण न हो तब उसे बन्द रखना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण (11.5.6.9) में भी पूर्वाधीत पाठ की पुनरावृत्ति का विधान मिलता है। पुनरावृत्ति में वैसे मनोयोग की आवश्यकता नहीं रहती जैसे कि अभिनव ज्ञानार्जन में; फलतः अनध्याय में उसे वर्जित नहीं किया गया।

प्राचीन शिक्षा अध्ययन का मुख्य विषय था—वेद। वेद चार हैं—ऋक्, यजुष, साम और अथर्व। प्रत्येक वेद मन्त्र या संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् रूप में चतुर्धा विभक्त हैं। यही नहीं, मौखिक रूप से प्रचलित होने कारण (पाठ भेद से) इनकी अनेक शाखायें—प्रशाखायें उपलब्ध होती हैं। अतएव वेदों के सम्यक् बोध हेतु षडंगों—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द ज्योतिष एवं व्याकरण का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय स्वयं में बहुत विशाल है जिसका अध्ययन अतीव श्रम तथा समय साध्य है। ऐसे में अन्यान्य विषयों के अध्ययन का गौण हो जाना आश्चर्यजनक नहीं है।

वेदाध्ययन की प्रधानता होने पर भी अनेक व्यावहारिक एवं उपयोगी विषयों का अध्ययन कराया जाता था जैसा कि विभिन्न उल्लेखों से प्रमाणित होता है। छान्दोग्योपनिषद् (7.1.2) में चतुर्वेदों के अतिरिक्त पंचम वेद इतिहास—पुराण), वेदों के वेद (व्याकरण), पित्र्य (श्राद्ध विषयक प्रबन्ध), राशि अंकगणित), दैव (लक्षण—विद्या), निधि (गुप्त खनिज खोदने की विद्या), वाकोवाक्य (कथनोपकथन या हेतु विद्या), एकायन (राजनीति), देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या (धनुर्वेद), सर्पविद्या, देवजनविद्या (नाच, गान आदि) का निर्देश हुआ है। नारद इन विद्याओं को सीखने के बाद सनत्कुमार के पास आया था। बृहदारण्यकोपनिषद् (4.5.1), शतपथ ब्राह्मण (3.2.4.6) आदि से नृत्य गीत, बुनाई जैसे शिल्पों का परिचय मिलता है। महर्षि पाणिनि ने प्राचीन कल्पसूत्रों, भिक्षुसूत्रों, नटसूत्रों तथा अन्य

लौकिक विषयों से सम्बद्ध ज्ञान के आधार पर अष्टाध्यायी में सूत्र निबद्ध किये हैं। चतुर्दश विद्याओं की प्रतिष्ठा बहुश्रुत है जिसके अन्तर्गत वेद(4) वेदाङ्ग(6), धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा तथा न्याय का परिगणन किया जाता है।

वैदिक वाङ्मय की विशालता को देखते हुए ऋषियों ने उसकी सुरक्षा हेतु द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का एक कर्तव्य—सा निर्धारित कर दिया कि वे वेद के संरक्षण एवं पालन में लगे रहें। ब्राह्मण के लिए यह कर्तव्य प्रथम था। गौतम ने राजा (अर्थात् क्षत्रिय) को तीनों वेदों तथा आन्वीक्षिकी (अध्यात्म या तर्कशास्त्र) का पण्डित होना बताया है क्योंकि उसे अपने कर्तव्यपालन में इन सबका आश्रय लेना पड़ता था। वैश्यों की शिक्षा के विषय में अत्यल्प निर्देश उपलब्ध होते हैं। मनु (10.1) के अनुसार वेदाध्ययन में इनका अधिकार है परन्तु व्यापार, पशुपालन एवं कृषि वैश्यों की जीविका के साधन हैं। अतः इन्हें मुख्यतया वार्ता विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

मध्य एवं वर्तमान काल की अपेक्षा प्राचीन काल में स्त्रियों की शिक्षा व्यवस्था कहीं उच्चतर थी। बहुत सी नारियों ने मन्त्रों का दर्शन किया। अष्टाध्यायी (4.1.59) में 'आचार्या' तथा 'उपाध्याया' पदों के उल्लेख से नारी शिक्षिकाओं की परम्परा का पता चलता है। वात्स्यायन के कामसूत्र (1.2.1—3) में लड़कियों को पितृ गृह में चौंसठ कलाओं के सीखने तथा विवाहोपरान्त पति की आज्ञा से इन्हें प्रयोग में लाने का उपदेश दिया गया है। इन कलाओं में प्रहेलिका, पुस्तकवाधन, काव्य समस्यापूर्ति प्रभृति के परिगणन से स्त्री का शिक्षित होना प्रमाणित होता है। राजशेखर आदि के काव्यसंग्रहों से विज्जा, सीता इत्यादि कवयित्रियों की सूचना भी मिलती है।

अतः निष्कर्षतः यह माना जाता है अष्टादश शिल्प और चतुःषष्टि कलायें भी अध्ययन के क्षेत्र में समाहित थीं। शिल्प मुख्यतया वर्णाश्रित कर्तव्यों के निष्पादन में सहयोगी थे तथा कलायें प्रधानतया स्त्रियों के लिये विहित थीं। इस प्रकार यथावश्यक विषयों में पारंगत होकर व्यक्ति ऐहिक एवम् आमुंभिक उभयविध प्रयोजनों को प्राप्त कर लेता था।

प्राचीन काल में (आधुनिककाल जैसी) किसी परीक्षा अथवा उपाधि की व्यवस्था नहीं थी। शिष्य के आचार-विचार की प्रतिदिन परीक्षा रहती थी (क्योंकि किसी भी त्रुटि के लिये उससे तत्काल प्रायश्चित्त कराये जाते थे)। जब गुरु समझ लेता था कि शिष्य ने अपेक्षित ज्ञानार्जन कर लिया है तब वह उसका समावर्तन संस्कार करके (गृहस्थ होने के लिए) गुरुकुल से वापस करता था। इस प्रकार गुरु की सन्तुष्टि ही उपाधि थी। इस अवसर पर वह शिष्य को भावी जीवन में सफल एवं तेजस्वी होने के मूलभूत मूल्यों का उपदेश देता था जिसे (आजकल का) दीक्षान्तभाषण माना जा सकता है।

इन उपदेशों में उसके नैतिक आदर्श जैसे सत्य बोलना, धर्माचरण आदि, समाज के प्रति उत्तरदायित्वों का निर्वहण तथा जीवन की जटिलताओं में सामंजस्य स्थापन—सब कुछ व्यावहारिक रूप से गुम्फित है। 'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि' कह कर मानो आचार्य यह स्वीकार करता है कि (मनुष्य होने के कारण) उसमें भी कुछ सहज दुर्गुण हो सकते हैं, शिष्य (उन न्यूनताओं का अनुकरण न करे) केवल सद्वृत्तियों को अपनाये। यह स्वीकारोक्ति अनुपम है जो आचार्यत्व के गौरव में श्रीवृद्धि करती है। इसी प्रकार 'अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्.....यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः' वाक्य उन सभी विषमताओं-आशंकाओं के निवारण का मूलमन्त्र है जिनके सन्दर्भ में वेद, स्मृति, पुराण प्रभृति आकरग्रन्थ साक्षात् उल्लेख नहीं करते। यह दीक्षान्त उपदेश सारे अध्ययन का निर्गलितार्थ है, यही जीवन विधा है और यही सेवनीय है—एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदापनिषत्। एवमुपसितव्यम्। एवं चौतदुपास्यम्।

वेदाध्ययन के लिये कोई शुल्क निर्धारित नहीं था। इसके विपरीत जीविकार्थ वेद या वेदांग पढ़ाने वाला गुरु 'उपाध्याय' कहलाता था। याज्ञवल्क्य (3.265) ने धनार्थ पढ़ाने तथा वेतनभोगी से पढ़ने को उपपातकों में गिना है। मनु ने भृतकाध्यापक और उनके शिष्यों को श्राद्ध में निषिद्ध किया है।

मुस्लिम आक्रान्ता बख्तियार खिलजी ने 1203 ई0 में इस विश्वविद्यालय को ध्वस्त कर दिया, भिक्षुओं की सामूहिक हत्या करवा दी तथा ग्रन्थों को जला दिया। तत्कालीन

कुलपति शाक्य श्रीभद्र येन—केन प्रकारेण अपने कुछ अनुयायियों के साथ बचकर तिब्बत चले गये। इस प्रकार भारतीय ज्ञान विज्ञान को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति तक पहुँचाने में अग्रणी एक शिक्षण संस्थान का दुःखद हास हो गया फिर भी शिक्षा अपने अनवरत रूप से अवलोकन होती रही।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।—पाणिनीय शिक्षा 41, 42
2. अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।—गीता 7.5
3. ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्ततत्त्वार्थविलोकदक्षम्।
तेजोऽनपेक्षं विगतान्तरायं प्रवृत्तिमत् सर्वजगत्त्रयेऽपि।। — सुभाषितरत्नसन्दोह
4. अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः।।—सुभाषितरत्नभाण्डागार
5. मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मी तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या।।
6. न चौरहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्।।
7. धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः यो ह्येकमन्तः स नरो जघन्यः।
द्वयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे।। —महाभारत, शान्तिपर्व 167.40
8. मनु० 2.70
9. पा०गृ०सू० 2.2.14
10. मनु० 2.48—51
11. शत०ब्रा० 11.5.1—17; आश्व० गृ०सू० 1.22.2; याज्ञ० 1.16—32
12. मनु० 2.175—249
13. विद्या योगेन रक्ष्यते।—वृद्ध चाणक्य
14. सम्भवतः इसीलिये 'वेद' की 'श्रुति' (श्रवणपरम्परा वाला) कहा गया।

15. वेदस्वीकरणं पूर्व विचारोऽभ्यसनं जपः ।
ततो दानंच शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पंचाधा ॥
16. स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।— तैत्तिरीयोपनिषद् 1.11
17. ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ
शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः ।
18. अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः.... । —नैषध 1.4
19. शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः यस्तु क्रियावान् पुरुषः स एव ।
20. आप०ध०सू० 1.1.1.11—13
21. आपस्तम्ब 1.3.9.4—11, गौतम०, 16.5.46, मनु०, 4.102—128, याज्ञ० 1.144—151
22. अष्टाध्याय 4.3.87—88, 105, 110, 111 एवं 116
23. याज्ञवल्क्य 1.3, मत्स्य पुराण 53.5—6
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया में कोटिश्चस्त्रो दश चाहरेतिः — रघुवंश 5.21
चतुदर्शत्वं कृतवान् । — नैषध 1.4
24. ब्राह्मणेन निष्कारणेन षडंगो वेदाऽयेयो ज्ञेयश्च — महाभाष्य, पस्पशाहिक
25. गौतम 11.3